

अपभ्रंशकाव्यत्रयी : एक अनुशीलन

[ले०—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री]

युगप्रधानाचार्य जिनवल्लभसूरिजी के पट्टधर, खरतर-गच्छ के परमगुरु एवं बहुश्रुत विद्वान् कवि श्रीजिनदत्तसूरि खरतरगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य थे। यतः—

एतत्कुले श्रीजिनवल्लभाख्यो गुरुस्ततः श्रीजिनचन्द्रसूरिः ।
सुपूर्वसूरिस्तदनुक्रमेण बभूव वर्यो बहुलेस्तपोभिः ॥

—अपभ्रंशकाव्यत्रयी, पृ० ३५

उन्होंने केवल संस्कृत और प्राकृत भाषा में ही नहीं अपभ्रंश भाषा में भी अनेक ग्रन्थों की रचना कर भारतीय साहित्य के भाण्डार को अत्यन्त समृद्ध किया। उनका जन्म गुर्जर देश में धवलकपुर में वि० सं० ११३२ में हुआ था। वे हूमड़ जाति के वणिक थे। वि० सं० ११५१ में उन्होंने दीक्षा धारण की थी और वि० सं० ११६६ में वे सूरि-पद को प्राप्त हुए थे। अपभ्रंश भाषा में रची हुई उनकी तीन काव्य-कृतियाँ परिलक्षित होती हैं। ये तीनों रचनाएँ टीका सहित 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' में—संकलित हैं। अपभ्रंशकाव्यत्रयी का सम्पादन बड़ौदा के प्रसिद्ध जैनपण्डित श्रीलालचन्द्र भगवानदास गांधी ने सुयोग्य रीति से किया और जिसका प्रकाशन सन् १९२७ में ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से ग्रन्थ क्रमांक ३७ के अन्तर्गत गायकवाड़ ओरियन्टल सोरिज में हो चुका है।

अपभ्रंश भाषा में रचे गये श्रीमजिनदत्तसूरि के ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. चर्चरी २. उपदेशरसायनरास ३. कालस्वरूपकुलकम् चर्चरी ४७ पत्रों की लघु तथा सुन्दर रचना है। लोकभाषा तथा शैली में यह रचना नृत्यपूर्वक गान करने के लिए पूज्य गुरु श्रीजिनवल्लभसूरि के गुणों की स्तुति के

निमित्त रची गई। श्रीजिनपालोपाध्याय के द्वारा विहित वृत्ति से यह स्पष्ट है कि इस चर्चरी की रचना वाग्जडदेश के प्रमुख भ० धर्मनाथ के जिनालय व्याघ्रपुर में श्रीजिनदत्तसूरि द्वारा की गयी थी। श्रीजिनवल्लभसूरि का स्मरण दो विशेषणों के साथ किया गया है—

जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणदुल्लहह ।

युगप्रवर तथा आगमसूरि श्रीजिनवल्लभसूरि का स्मरण बहुविध किया गया है। वस्तुतः अपभ्रंश लोकभाषा होने के कारण गुरु-स्तुतियाँ इस भाषा में लिखी जाती थीं। अपभ्रंश में चर्चरी या गीत लिखे जाने के दो मुख्य कारण थे—लोक प्रचलित शैली में भावों की अभिव्यक्ति तथा जन साधारण की समझ में आने वाली बोली का प्रयोग। अभी खोज करते समय लेखक को चित्तौड़गढ़ से श्रीजिनवल्लभसूरि के गीत अपभ्रंश भाषा में लिखे हुए मिले हैं। इस रचना से यह भी पता चलता है कि श्रीजिनदत्तसूरि की कवित्वशक्ति गुरु परम्परा से प्राप्त हुई थी। उनका कथन है—लोक में कवि कालिदास की रचनाओं का वर्णन किया जाता है। किन्तु वह तभी तक है जब तक कवि जिनवल्लभ को नहीं सुना। इसी प्रकार सुकवि वाकपतिराज की अत्यंत प्रसिद्धि है, किन्तु वह भी जिनवल्लभ के आगे फोकी पड़ जाती है। अन्य अनेक सुकवि उनके काव्यामृत के लोभी इनकी समता नहीं कर पाते। जो सिद्धान्त के जानकार हैं वे उनका नाम सुनकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसलिये लोकप्रवाह से बचकर कुमार्ग को छोड़ कर सत्मार्ग में लगना चाहिये। यथा—

परिहरि लोमपवाहु पयट्टिउ विद्विसउ
पारतंति सहु जेण निहोडि कुमग्गसउ ।
दंसिण जेण दुसंघ-सुसंघह अंतरउ
बद्धमाणजिणतित्थह कियउ निरत्तरउ ॥१०॥

दूसरी रचना उपदेश (धर्म) रसायनरास है। इस पर भी श्रीजिनपालोपाध्याय की वृत्ति मिलती है। यह पद्म-द्विधाबन्ध रचना है। वृत्ति से स्पष्ट है कि कवि ने लोक-प्रवाह के विवेक को जाग्रत करने के हेतु सद्गुरु स्वरूप, चैत्यविधिविशेष, तथा धर्मरसायनरास की रचना की। सद्गुरु के सम्बन्ध में उसके लक्षणों का निर्देश करता हुआ कवि कहता है—

सुगुरु सु वुच्चइ सच्चउ भासइ
परपरिवायि नियरु जमु नासइ ।
सव्वि जीव जिब अप्पउ रक्खइ
मुक्खु मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ ॥४॥

अर्थात् जो सच बोलता है उसे सुगुरु कहते हैं। जिस के वचनों को सुनकर अन्य वादियों का भय नष्ट हो जाता है, सभी जीवों की रक्षा अपनी रक्षा की भांति करने लगते हैं और मोक्ष-मार्ग के पृच्छने पर जो सभी को बतलाता है वह सुगुरु है। तथा—

जो जिनवचनों को ज्यों का त्यों जानता है, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को भी जानता है और उनके अनु-सार वर्तन भी कराता है तथा उन्मार्ग में जाते हुए लोगों को रोकता है (वह सुगुरु है)।

जो जिणवयणु जहट्टिउ जाणइ
दव्वु खित्तु कालु वि परियाणइ ।
जो उस्सग्गववाय वि कारइ
उम्मग्गिण जणु जंतउ वारइ ॥५॥

इस रचना में कुल ८० पद्य हैं। कवि के युग में माघमाला जलक्रीड़ा, लगुडरास तथा विविध नृत्य-गानों का चैत्यगृहों में विशेष प्रचार था। मन्दिरों में नाटक भी खेले जाते थे।

तालरासक एवं विविध वाद्य-ध्वनियों का भी वादन होता था। विविध प्रकार से लोग अपने भक्ति-भावों को प्रदर्शित करते थे। कवि का कथन है—जिन मन्दिरों में उचित स्तुति और स्तोत्र पढ़े जाते थे, जो जिनसिद्धान्तों के अनुकूल होते थे। श्रद्धाभरित होने पर भी रात में ताल-रासक प्रदर्शित नहीं होता था। दिन में भी महिलायें पुरुषों के साथ लगुडरास नहीं खेलती थीं।

उच्चिय शुत्ति थुयपाठ पडिज्जहि
जै सिद्धंतिहि सहु संधिज्जहि ।
तालारासु वि दिति न रयणिहि
दिवसि वि लउडारसु सहूँ पुरिसिहि ॥ ६॥

धार्मिक लोग केवल नाटकों में नृत्य करते थे और चक्रवर्ती भरत तथा सगर के अभिनिष्क्रमण का एवं अन्य चक्रवर्ती चरितों का प्रदर्शन करते थे।

धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहि
भरहसगरनिक्खमण कहिज्जहि ।
चक्खवट्टिबलरायहं चरियइं
नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइं ॥ ७॥

इस प्रकार कवि ने यह बताया है कि इन विविध रासों, नृत्य-गानों का अभिप्राय मनोरंजन न होकर अन्त में वैराग्य-भावना की अभिव्यंजना रही है। अतएव माघमाला जलक्रीड़ा तथा झूला-पालना तीनों जिनालय में करना निषिद्ध है। घर पर किये जाने वाले कार्य भी जिन-मंदिर में करना उचित नहीं है।

माहमाल - जलकोलंदील्य
तिवि अजुत्त न करति गुणालय ।
बलि अत्थमियइ दिणयरि न घरहिं
घरकज्जइं पुण जिणहरि न करहिं ॥३६॥

लोकव्यवहार के सम्बन्ध में उन के विचार थे—कि जो बेटा-बेटियों को परणाते हैं वे समानधर्म वाले घरों में विवाह रचते हैं। क्योंकि यदि विमत वालों के घर

सम्बन्ध किया जाता है तो निश्चय से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। आचार्य श्री का यह भी कथन है कि अल्प धन से ही संसार के सावध कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। धन केवल मनुष्य के कुटुम्ब के निर्वाह का साधन है। अतएव धार्मिक कार्यों में धन का सदुपयोग कर सम्यक्त्व की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये। सम्यक्त्व की प्राप्ति प्रतिक्रमण, वन्दना, नवकार की सज्जाय आदि से होती है। उनके ही शब्दों में—

पडिकमणह वंदणइ आउली
चित धरंति करेइ अभुली
मणह मज्झि नवकारु वि ज्जायइ
तासु सुट्ठु सम्मतु वि रायइ ॥ १॥

अपभ्रंश की तीसरी रचना कालस्वरूपकुलकम् है। यद्यपि यह बत्तीस छन्दों में निबद्ध लघु रचना है, किन्तु विषय और भावों की दृष्टि से यह सशक्त रचना है। जन सामान्य के लिए यह रचना अत्यन्त उपयोगी है। रचना सरल और भावपूर्ण है। इसपर सूरप्रभ उपाध्याय की लिखी हुई वृत्ति भी साथ में प्रकाशित है।

मनुष्य जन्म के सफल न होने का कारण बताता हुआ कवि कहता है—यह जन मोह की नींद में सो रहा है, कभी जागता ही नहीं है। मोहनींद में से उठे बिना यह शिव-मार्ग में नहीं लग सकता। यदि किसी सुखकर उपाय से कोई गुरु उसे जगाता है तो उसके वचन उसे अच्छे नहीं लगते।

मोहनिइ जणु सुत्तु न जग्गइ
तिण उट्ठवि सिवमग्गि न लग्गइ।
जइ सुट्ठु कु वि गुरु जग्गावइ
तु वि तव्वयणु तासु नवि भावइ ॥५॥

जिस प्रकार हिन्दी भाषा में निर्गुण सन्तों ने सिर मुंडा लेने मात्र का निषेध किया है उसी प्रकार आचार्य जिनदत्तसूरि भी कहते हैं कि लोक में बहुत से साधु सन्यासी मुण्डित दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु उनमें राग द्वेष भरपूर विलसित है। इसी प्रकार बहुत से शास्त्र पढ़ते हैं, उनका निर्वचन तथा व्याख्यान करते हैं, किन्तु परमार्थ नहीं जानते हैं। उनके शब्द हैं—

बहु य लोय लुंचियसिर दोसहि
पर रागदोसिहि सहुं विलसहि।
पढहि गुणहि सत्यइ वक्खाणहि
परि परमत्थु तित्थु सु न जाणहि ॥७॥

कवि का यह कथन कितना सुन्दर है कि यह संसार घटूरे के उस सफेद फूल के समान सुन्दर तथा आकर्षित करने वाला है, जो पौधे में लगा हुआ मनोहर लगता है। किन्तु जब उसका रस पिया जाता है तब सब सूना लगता है। मनुष्य का आयुष्य थोड़ा है। अतएव गुरुभक्ति कर मनुष्यजन्म सफल बनाना चाहिए।

जहिं घरि बंधु जुय जुय दीसइ
तं घरु पडइ वहंतु न दीसइ।
जं ददबंधु गेहु तं बलियउ
जडि भिज्जंतउ सेसउ गलिउ ॥२६॥

अर्थात् जिस घर में बान्धव अलग-अलग दिखलाई पड़ते हैं वह घर नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार से बन्धु-बान्धवों के एक घर से अलग-अलग हो जाने पर वह घर फूट जाता है उसी प्रकार संयमी जनों से रहित घर भी विनष्ट हो जाता है। दृढबन्ध होने पर भी जिस घर को नौव में पानी हो वह गल कर नष्ट हो जाता है। अतएव लौकिक समृद्धि प्राप्त करना हो तो घर को बुहारी की भाँति बाँधना चाहिए। यदि बुहारी का एक-एक तिनका अलग-अलग कर दिया जाये तो फिर उससे कैसे बुहारा जा सकता है ?

कज्जउ करइ बुहारी बद्धो
सोहइ गेहु करेइ समिद्धी।
जइ पुण सा वि जुयं जुय किज्जइ
ता किं कज्ज तीए साहिज्जइ ॥२७॥

युगप्रवर आचार्य जिनदत्तसूरिजी के पट्टधर शिष्य मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि के अष्टमशताब्दी समारोह के शुभ सन्देश के रूप में आज भी उनके वे वचन अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रेरणादायक हैं कि हम सबको (सभी सम्प्रदायों को) अब एक जुट होकर बुहारो की भाँति जिनशासन के एक सूत्र में बंध जाना चाहिए, ताकि मानवता एवं धर्म की अधिक से अधिक सेवा हो सके।

पता—

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, एम० ए०,
पी०एच० डी०,
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
नोमच (मन्दसौर) म० प्र०